जगदीश गुप्त



हिम-विद्ध



भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

हिमवान् हिमालय समस्त भारतीय चेतनाका देवालय रहा है : ऐसा देवालय जहाँ सत्य, शिव और सुन्दर तीनों एक साथ प्रतिमित हों, जहाँ पवित्रता और मांगलिकता ही नहीं, जड़में चेतन शक्तिका भी साक्षात्कार होता हो। यहाँ जो भी आता है वह एक भव्य शोभा और शक्तिके भावसे तो अभिभूत होता ही है, जीवनके एक अपूर्व बोधसे भी स्पन्दित हो उठता है; मानो यहाँका विराट् सत्य उसके सम्पूर्ण अस्तित्वको विद्ध कर देता हो।

प्रस्तुत कविता संग्रहका 'हिम-विद्ध' नाम इसी विद्धताकी ओर संकेत करता है। हिम-देशके सम्पर्कने कविके अभ्यन्तरकी रिक्तताको जिस कोमल-स्निग्ध समृद्धिसे भर दिया उसीका ये कविताएँ संवहन करती हैं। इनका विषय वहाँकी आँखोंदेखी टटकी छवियोंका स्थूल दर्शन-वर्णन नहीं है, उन अनुभूतियों-प्रतीतियोंके सहज और भरे-भींगे शब्दचित्र उकेरना है जिन्हें पाकर ही कविने अपनेको हिमविद्ध माना और जीवन उसे नये अर्थ-बोधसे स्पन्दित होता लगा।

एक बड़ी विशेषता इन कविताओंकी यह है कि विषय सूक्ष्म और चित्रात्मक होते हुए भी, ये सब अत्यन्त सरल और अपनेमें रमा लेनेवाली हैं। शैली और शिल्पके प्रचलित आग्रह-भारोंसे ये सर्वथा मुक्त हैं; प्रत्येक कविता उसी रूपमें प्रस्तुत हुई है जो उसकी मूल अनुभूतिके भीतर निहित था। निस्सन्देह वर्तमान हिन्दी काव्य-साहित्यकी 'हिम-विद्ध'से श्रीवृद्धि होगी।



मूल्य तीन रुपये

Purchased at Delhi
Feb. March — 1987

हिम-विद्ध

जगदीश गुप्त

*



भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

ज्ञानपीठ लोकोदय ग्रन्थमाला : ग्रन्थांक – १९६

सम्पादक एवं नियामक :
लक्ष्मीचन्द्र जैन

HIM-VIDDH
(Poems)
Dr. JAGDISH GUPTA
Bharatiya Jnanpith
Publication
First Edition 1964
Price Rs. 3.00

प्रकाशक
भारतीय ज्ञानपीठ
प्रधान कार्यालय
९ अलीपुर पार्क प्लेस, कलकत्ता-२७
प्रकाशन कार्यालय
दुर्गाकुण्ड रोड, वाराणसी-५
विक्रय केन्द्र
३६२०।२१ नेताजी सुभाष मार्ग, दिल्ली-६
प्रथम संस्करण १९६४
मूल्य तीन रुपये


सन्मति मुद्रणालय, वाराणसी–५

कालिदास को
निकोलस रोरिक को
अनागारिक गोविन्द को
और—
हर उस व्यक्ति को
जिसकी आत्मा ने
हिम-विद्ध होकर
एक जीवनव्यापी
पवित्र उन्मेष का अनुभव किया हो

पूर्व कथन

•

अपने अन्तर्मनमें ही नहीं बाहरके वातावरणमें भी, एक रचनाकारके नाते, मुझे बहुत समयसे एक विचित्र प्रकारकी रिक्तताका अनुभव होता रहा है, जो अब भी सर्वथा निःशेष नहीं हुआ है। जहाँतक मेरे अभ्यन्तरकी बात है हिम-देशके सम्पर्कने रिक्तताके इस कठोर-तिक्त अनुभवको बहुत दूर तक भावकी कोमल स्निग्ध समृद्धिसे भर दिया है। प्रस्तुत संकलनकी कविताएँ उसीका संवहन करती हैं। बाहरके वातावरणकी बात कठिन है। 'भाव' जीवनके अन्तरंग सत्यकी गरिमा है, वह व्यक्तिके अस्तित्वका विशिष्ट रूप ही नहीं स्वयं अस्तित्व है। बाह्य जगत्के सम्पर्कसे प्राप्त सम्यक् प्रेरणा-द्वारा जब उसकी अभिव्यक्ति होती है तो ऐसा लगता है कि जैसे अपने ही भीतर निहित किसी नये सत्यसे साक्षात्कार हो रहा हो, भले ही वह सत्य ज्ञानके धरातलपर पूर्व परिचित ही क्यों न हो। विषाक्त सामाजिक वातावरणमें, निरन्तर संघर्षरत रहते हुए, आदमी छोटे-छोटे स्वार्थोंसे ऊपर उठकर अपने आन्तरिक भाव-सत्यकी प्रतिष्ठा कहाँ करे यह समस्या आजकी जीवित समस्या है और मेरे आगे ही नहीं प्रत्येक जागरूक व्यक्तिके आगे उपस्थित होती है। अप्रतिष्ठित भाव घुटनके अभिशापसे ग्रस्त एक भारी बोझकी तरह जीवनको और अधिक दुर्वह बना देता है। अतीत-में मनुष्यने अपने भीतरी भाव-सत्यको ईश्वर, धर्म और देवी-देवता आदिके नामपर कहाँ-कहाँ संस्थापित नहीं किया परन्तु आधुनिक चेतना प्रत्यक्षतः अनुभूत होनेवाले वस्तु-जगत् अर्थात् मानव और प्रकृतिके अतिरिक्त किसी अन्य अलख-अरूपमें

भावनाको संस्थापित करनेकी प्रेरणा नहीं देती। मानव और प्रकृतिके विषयमें भी वैज्ञानिकताके आग्रहसे युक्त वर्तमान युगमें जो धारणा संगत प्रतीत होती है वह मध्यकालीन परलोकोन्मुखी धारणासे भिन्न और स्पष्टतः लोकोन्मुखी है। छायावादी रहस्य-वाद भी अब उसमें शेष नहीं बचा है। पैरोंके नीचे पदार्थकी कठोरता प्रतिक्षण अनुभूत होती रहती है। मुझे लगता है कि आजका मनुष्य ईश्वर और धर्मके रूढ़िबद्ध रूपसे किनारा करके भी अपनी सार्थकता, मानव-मूल्योंपर अपनी दृढ़ आस्था रखकर तथा प्रकृतिसे अपने आदिम सम्पर्क-सूत्रोंको सजीव बनाकर ही विशेषतः प्राप्त कर सकता है। हृदयकी उन्मुक्तता और अनुभव-की सहजताके आधारपर वह ऐसी भावमयता अर्जित कर सकता है जो यान्त्रिक जीवनकी वर्धमान विषमताओं, यथार्थकी विकृ-तियों और छोटे-छोटे स्वार्थोंकी पूर्ति-लिप्सासे आहत मानव-मूल्योंकी भग्नताके बीच उसे नितान्त रिक्त होनेसे बचा सकती है। इसमें युगकी वास्तविकतासे पलायनकी गन्ध भी नहीं है वरन् एक प्रकारसे उसीकी सर्वांगीण स्वीकृति है। प्रकृतिसे कटकर महानगरोंका जीवन भयानक उमस, निर्जीव यान्त्रिकता और भावहीन व्यावहारिकतासे कितना बोझिल हो जाता है, लोग इसका भी बहुधा अनुभव नहीं कर पाते। उस बोझसे दबे हुए वे प्रकृतिसे अपना सहज सम्बन्ध स्थापित करनेमें अस-मर्थ हो जाते हैं। उनके लिए प्रकृतिका खुला द्वार घटिया स्तर-की विलास-वृत्तिको ही इधरसे उधर ले जानेका साधन बन जाता है।

सम्पूर्ण जीवन केवल व्यंग्य और विडम्बना ही नहीं है और न दुःख और अभाव ही उसकी समग्रताको व्यक्त करते हैं। नैसर्गिक सौन्दर्यके बहुविध आकर्षणोंसे उत्पन्न होनेवाली आत्मी-यतापरक विमुग्धता, सत्यकी उपलब्धिके अनुभवसे प्राप्त होने-वाला अकलुष परितोष तथा मनुष्य-मनुष्यके बीच मानवीयतासे सिक्त सम्बन्धोंका प्रतिफलन बनकर आनेवाली आस्था भी जीवनका ही अंग है। मैं तो यहाँतक कहूँगा कि आस्था, परितोष और विमुग्धताका यह पक्ष नष्ट हो जाये तो जीवनका गहरा अर्थ ही समाप्त हो जाता है। हमारी गति केवल सतह

तक सीमित रहे, गहराईसे उसका कोई वास्ता न हो ऐसा किसी-को भी अभीष्ट न होगा। भावके पक्षकी यह बात रोमाण्टिक या नियोरोमाण्टिक ढंगकी नहीं है क्योंकि यथार्थके परिवेशसे विलग होकर भावकी प्रतिष्ठाकी माँग यहाँ नहीं की जा रही है। मेरे निकट 'भाव' को स्वीकार करना यथार्थको मानवीय रूपमें स्वीकार करना है।

कला और कविता सभी असह्य बन्धनोंको तोड़ती हुई आज जिस जगह आ गयी है वहाँ उसे स्वच्छन्दताके साथ गतिशील होने और अपने लिए विवेकपूर्वक स्वयं दिशाबोध प्राप्त करने-का पूरा अधिकार मिल गया है, अपेक्षा है प्राणशक्तिके सजीव स्पन्दनोंकी जो बिना भावकी प्रतिष्ठाके सम्भव नहीं है। अपेक्षित भाव-तत्त्वसे रहित कृति रीते घटकी तरह अशुभ प्रतीत होने लगती है। उसमें आत्मीयता और सह-अनुभूति उत्पन्न करनेकी क्षमता भी धीरे-धीरे समाप्त होती जाती है। केवल अभिव्यक्ति-की विच्छित्तियों और रूपगत वैचित्र्यपर बल देनेसे भावकी कमीको पूरा नहीं किया जा सकता। शक्तिका सन्धान करते हुए समसामयिक कविता, और कला भी, कुछ ऐसे उपकरणों-की ओर उन्मुख होती गयी है जो स्वयं भाव न होकर उसके धारक या व्यंजक हैं। परिणामतः जो प्रभाव उसमें मिलता है वह बहुधा विचार-चिन्तन अथवा अभिव्यक्ति-कौशलकी देन है। अनुभूति उतनी समृद्ध नहीं हो सकी है जितनी किसी प्रौढ़ युगकी रचनाओंमें अपेक्षित होती है। भीतर और बाहरकी पूरी संगति हुए बिना भावना शक्तिके साथ प्रवाहित नहीं होती। तरह-तरहकी वर्जनाएँ उसकी अभिव्यक्तिके आड़े आती रहती हैं। इन कविताओंके माध्यमसे मुझे लगता है कि जैसे मेरे अन्तर्निहित भाव-सत्यने अपनी अभिव्यक्तिके लिए स्वानुरूप मार्ग खोजनेकी चेष्टा की है। कविता और कलाका क्षेत्र ऐसा है जहाँ प्रत्येक व्यक्तिको यदि वह सक्रिय है तो अपने अनुरूप स्वतन्त्र अभिव्यं-जना-पथ अन्वेषित करना ही होता है।

अपने आज तकके विकास-क्रमको जब मैं पीछे मुड़कर देखता हूँ तो लगता है कि मेरे अन्दर जो भाव-सामर्थ्य रही है

उसको पहली बार दीप-श्रृंखलाके चित्रों और सम्बद्ध गीतियों तथा दूसरी बार चन्द्रासक्तिकी परिधिमें निर्मित स्वप्न-चित्रों तथा समानान्तर रची गयी कविताओंका रूप प्राप्त हुआ। इन दोनों आवेगमय विस्तृत भाव-स्थितियोंमें एक मूर्त छायाका साहचर्य रहनेके कारण मुझे प्रायः ऐसा लगा है जैसे इनमें मैं ही नहीं हूँ, किसी अन्यका अस्तित्व भी है और मैं उसके साथ हूँ। यह अनुभूति अपनेमें महत्त्वपूर्ण होते हुए भी अब मुझे इस तीसरी भाव-स्थितिके समक्ष कच्ची और बीती हुई प्रतीत होती है। हिम-विद्धताकी सारी भाव श्रेणियोंके बीच मुझे लगता रहा है कि अब अपने साथ केवल मैं ही हूँ। वह छाया मुझे पकी ईंटकी तरह कठोर बनाती हुई प्रकृतिके सौन्दर्य-सम्पर्कमें छोड़कर स्वयं तिरोहित हो गयी है। जो कोमलता इन कविताओंमें आयी है वह पाषाणोंके आगे पकी ईंटकी कोमलता है। बाह्य-सौन्दर्य और मेरे अन्तरंग-द्वारा उसके प्रत्यक्षीकरण एवं आस्वादनके बीच कोई छायाभास अब कदाचित् शेष नहीं रह गया है। केवल मेरे मनमें उसके प्रति अपार कृतज्ञता बची है क्योंकि उसीके द्वारा मुझे अपने अस्तित्वका प्राथमिक बोध हुआ। मैं इस तथ्यसे इनकार नहीं करूँगा कि इन तीनों भाव-स्थितियोंमें कहीं कुछ समानता रही है जैसे रूपाकर्षण, तरलता, तन्मयता और परितोष सुखकी दिशामें, परन्तु यह भी स्पष्ट कर देना चाहूँगा कि यह तीसरा भाव-प्रवाह मेरे निकट एक ऐसी आत्मोपलब्धिका द्योतक है जिसका स्तर पूर्ववर्ती प्रवाहस्तरोंसे पर्याप्त भिन्न हो चुका है। इसमें द्रष्टा और स्रष्टाके बीच काफ़ी निकटता स्थापित हो गयी है। 'पुनः सृष्टि' कविता साक्षी है। ऊँचाइयोंको स्पर्श करनेकी भावना रखना तथा प्रत्येक क्षेत्रमें उनके सौन्दर्यको निहारकर परितोषका अनुभव करना मनुष्य-मात्रका स्वभाव है और भावनाके इस धरातलपर मैं अपनेको किसीसे पृथक् नहीं रखना चाहता।

हिमालय समस्त भारतीय चेतनाका महान् देवालय रहा है। जो सत्य प्रतिमित देवालयोंमें प्राप्त नहीं होता वह हिमालयमें अजस्र उपलब्ध होता है। उसकी अपार सुन्दरताके

आगे विनत होनेमें मेरी आत्माने गौरवका अनुभव किया है। उसके शिखरोंकी अगणित श्रृंखलाओंसे आबद्ध होकर मेरी बहुत-सी मानसिक सीमाएँ टूटी हैं। भारतीय दृष्टि तत्त्वतः मांगलिकता और पवित्रताको केन्द्रमें रखकर जीवनके स्वरूपका आकलन करती है। पाषाणमय हिमालय भी उसके निकट कल्याणमय शिव ही रहा है। जड़में भी चैतन्यशक्तिका सौन्दर्य उसे लक्षित होता है। पाश्चात्त्य वैज्ञानिक-दृष्टि आज जड़के आधारपर चेतनको समझना चाहती है, विश्लेषणके प्रति उसका विश्वास सराहनीय है परन्तु भारतीय चिन्तनके एक व्यापक क्षेत्रमें चैतन्यको मूल मानकर जड़को व्याख्यायित करनेका यत्न किया गया है। अन्तिम सत्य तो राम ही जाने पर मुझे जीवनकी भारतीय धारणा अधिक मानवीय और प्रेरक प्रतीत होती है। उसमें जीवनको जड़ वस्तुओंकी तरह विभाज्य मानकर नये पुरानेके बीच आत्यन्तिक व्यवधान और विरोध सिद्ध करनेकी अनिवार्यता सामने नहीं आती। मनुष्यका विकास-क्रम विच्छिन्न नहीं होता। अखण्ड इकाईकी तरह उसकी प्रतिष्ठा बनी रहती है। जीवनका वास्तविक सम्मान उसकी अखण्डताको स्वीकार करके ही किया जा सकता है। निराशा, कुण्ठा, विकृति, भय और पराभवके ऊपर खण्डित जीवन-दर्शनके सहारे विजय प्राप्त नहीं की जा सकती। मैंने चेष्टा की है, इस बातके प्रति सजग रहनेकी, कि मेरी किसी भी कृतिसे जीवनका असम्मान न होने पाये। मानवके स्वाभिमान और स्वातन्त्र्यकी धारणाओंको मैं जीवनके प्रति इस व्यापक सम्मान-भावका अंग मानता हूँ।

पर्वत-प्रदेशके मेरे सारे अनुभव इन कविताओंमें आ गये हों ऐसी बात नहीं है। हिमदेशके निवासियोंके आर्थिक तथा अभावमय अविकसित एवं विषण्ण जीवनकी ओर इन कविताओंमें कोई दृष्टिपात नहीं किया गया है, उसकी अभिव्यक्ति मेरे बहुसंख्यक रेखाचित्रोंमें हुई है। यह आवश्यक नहीं है कि सारीकी सारी अनुभूतियाँ किसी एक ही माध्यमसे कह ही दी जायें। धुएँके बादल रचकर चटचटाहटके साथ पत्थर

बरसाती, पिघले हुए लोहेकी तरह आँखोंको कौंधसे भरती दावाग्नि, पर्वतको नीचेसे ऊपर तक अपने पाशमें बाँध लेनेको शक्ति रखनेवाली प्रदीप्त ज्वाल-मालाएँ और उनके बीच रह-रहकर उछलता हुआ वह मृग-शावक, विवशताके साथ उसे देखती हुई मेरी शंकाकुल निरीह आँखें और आसन्न मृत्युको परास्त करते हुए अन्तिम साहसके साथ एक ही छलाँगमें उसका पूरीकी पूरी दरार फाँद जाना, मेरे हर्षातिरेकमें कुछ सजलता आ जाना और फिर कभी न भूलनेवाली एक स्मृतिके रूपमें बिना किसी कविताको जन्म दिये सारे अनुभवका मनके एकान्तमें स्थिर हो जाना एक ऐसा ही उदाहरण है। ऐसे न जाने कितने प्रसंग हैं जो संवेदनासे पूरी तरह सम्पृक्त होकर भी काव्य-रूप ग्रहण नहीं कर सके। इसी तरह बहुत-सी कविताएँ ऐसी हैं जिन्हें किसी अनुभवके ज्ञात रूपसे सीधे नहीं जोड़ा जा सकता इस संकलनमें 'उपत्यका : आहत करुण स्वर' शीर्षक कविताकी तरह शायद ही कोई दूसरी कविता हो जो प्रत्यक्ष अनुभवसे इतने निविड़ रूपसे सम्बद्ध हो सकी हो। 'प्रकृति रमणीक है' कविता मेरे उस भाव-बोधको शब्द-बद्ध करती है जो प्रस्तुत संकलनकी प्रायः सभी कविताओंके मूलमें सूक्ष्म रूपसे परिव्याप्त रहा है। 'हिम-विद्ध' कविता इस दौरकी कविताओंमें सबसे पहली है और उसीसे संकलनके नामकी उद्भावना हुई है।

किसी परम्परागत काव्य-रूपके संवहनसे बड़ा सत्य यह है कि कविके स्वभाव और कथ्यकी प्रकृतिके अनुसार कविताका रूप स्वयं उद्भूत होता है। रचनाकार अपनी ओरसे उसे उद्भूत होते हुए देखनेकी तटस्थता एवं विशेष हस्तक्षेप न करने-की संयमशीलता अर्जित कर ले तो यह काव्यके लिए चेष्टित रचना-क्रमसे कहीं अधिक उपकारक होता है। कविता छन्द-मुक्त ही हो, मेरी दृष्टिसे यह आग्रह वैसा ही कठोर है जैसा छन्द-बद्धताको कविताके लिए अनिवार्य मानना। कविकी स्वतन्त्रता दोनोंसे बाधित होती है। इन दोनों सीमाओंसे ऊपर उठकर एक ऐसा दृष्टिकोण भी अपनाया जा सकता है कि प्रत्येक कविताका रूप उसकी मूल अनुभूतिके भीतर निहित

रहता है और रचना-प्रक्रियामें स्वत: निष्पन्न हो जाता है। कविके लिए अपेक्षित यह है कि वह उस निहित रूपको अपने पूर्वाग्रहोंसे आच्छादित न होने दे और अपने असंयत हस्तक्षेपसे विकृत न बनाये। जहाँतक सम्भव हो सजगतापूर्वक उसको रक्षित करनेका प्रयत्न करे। यदि कोई कविता छन्द-बद्ध होकर ही उद्‌भूत होती है तो बलात् उसे मुक्त-छन्द या छन्द-मुक्त रूपमें ढालनेकी बात मुझे अस्वाभाविक प्रतीत होती है। इसका विलोम भी उतना ही सही है। मैंने यत्न किया है कि कविताओंके निहित रूपकी यथासम्भव रक्षा कर सकूँ। कई बार पूर्वाग्रह प्रबल हुए पर मैं उन्हें प्राय: संयमित कर सका। कहीं-कहीं अपनेको नहीं भी रोक पाया हूँ पर उसका मुझे खेद नहीं है। इन कविताओंको रचते समय कभी-कभी लगा है कि जैसे मैंने किसी ऊँचे कगारसे घाटीकी अगाध गहराईको धीरेसे झाँक लिया हो, या जैसे कई शिखर एक साथ दीख गये हों और मैं निश्चय न कर सकूँ कि पहले किसे देखना है। अधिकतर यही प्रतीत हुआ है कि जलका गति-स्वर सुनते हुए चीड़ और देवदारुओंके बीच वन-पथपर सहज गतिसे चलता जा रहा हूँ तथा पर्वत-पवनकी तरह भाव-संवेग मेरा साथ दे रहा हो। जहाँ थकनका अनुभव हुआ थोड़ी देर रुक लिया।

सारी कविताएँ पिछले चार-पाँच वर्षोंके अन्तरालमें समय-समयपर लिखी जाती रही हैं। 'शब्द दंश' के प्रकाशनके समयसे ही उनका सृजन आरम्भ हो गया था। ऐसा न होता तो वह संकलन हिमालयके सहयात्री साहीको 'ढाकुरीकी वर्षाकुल सन्ध्या, सुन्दर ढोंगके जलद-अभिषिक्त शिखर और पिण्डर-वैलीके प्रथम हिम-स्पर्शकी स्मृतिके साथ' स्नेहार्पित न किया गया होता। मैंने हिमालयकी ओर उन्मुख होनेके लिए चीनी-आक्रमणकी प्रतीक्षा नहीं की और न उसके प्रति अपनी प्रतिक्रियाको असंयत ही होने दिया है क्योंकि वैसा मेरा संस्कार ही नहीं है। मैं चाहूँ भी तो वैसा मुझसे सम्भव नहीं है। नये सन्दर्भने मुझे स्पर्श न किया हो ऐसी भी बात नहीं है। अन्तकी चार कविताएँ संक्षेपमें ही सही पर मेरी सुनिश्चित निजी भावनाको

व्यक्त करती हैं। संकटके अवसरसे लाभ उठाकर बहुत लिख डालनेकी शक्ति मुझमें नहीं है, मैं मानता हूँ। मुझे उसकी आवश्यकता भी नहीं है। अपने भीतर राष्ट्रीयताकी कोई कमी मुझे दिखाई नहीं देती कि उसे छिपानेके लिए मैं कृत्रिम आवेशके प्रदर्शनका मार्ग अपनाऊँ।

इस बार अपने और अपनी कविताओंके बारेमें कुछ ज़्यादा कह गया हूँ। पढ़नेवालेके हृदयमें यदि यह कविताएँ समान अनुभूति उत्पन्न कर सकीं और इस प्रकार आत्मीयताका कुछ भी विस्तार हो सका तो मैं अपनेको कृतार्थ मानूँगा। मैं 'नयी कविता' से सम्बद्ध हूँ इसलिए आवश्यक नहीं है कि मेरी कविताएँ नयी कविता मान ली जायें। मेरे सन्तोषमें कोई कमी न होगी यदि ये 'कविता' होनेकी अपनी मूल सार्थकता सिद्ध कर सकीं।

इनके प्रकाशनके लिए मैं भारतीय ज्ञानपीठका हृदयसे आभारी हूँ।

प्रयाग : १० मई '६४ — *जगदीश गुप्त*



● आँख भर देखा कहाँ

● पुनः सृष्टि

● बादलों के वलय

● ढाकुरी के भोर

● वन-स्पन्दन

● स्मरण-जल

● मैं वह क्यों नहीं हुआ





आँख भर देखा कहाँ





राशीभूत अट्टहास

देखा हिमवान् को

....

शब्दहीन अट्टहास राशीभूत
कानों ने नहीं –
मुग्ध आँखों ने सुना।



जिस झरोखे से निहारा

जिस झरोखे से निहारा
खुले कोरे पृष्ठ-जैसा
वही उज्ज्वल
वही पावन
रूप
वही उठती उर्मियों-सी शैलमालाएँ
वही अन्तश्चेतना-सा गहन वन विस्तार
वही उर्वर कल्पना-से फूटते जलस्रोत
वही दृढ़ मांसल भुजाओं-से कसे पाषाण
वही चंचल वासना-सी बिछलती नदियाँ
पारदर्शी वही शीशे की तरह आकाश
और किरनों से झलाझल
वही मुझको वेधते हिमकोण

जिस झरोखे से निहारा
वही उज्ज्वल
वही पावन
वही निर्मल
रूप



दृश्य-शिशु

दूध के अधउगे दाँत- सी
कोर हिम-शृंग की
फूटी फिर
उस स्लेटी बादल की ओट से

चलता हूँ
अरे ! तनिक ठहरो भी,
पहले मैं इस शिशु का
पूरा मुख तो निहार लूँ !



हिम-श्री को देखा

दृष्टि के किनारों तक
फैली आकारहीन
हिम-श्री को देखा –
लगा
पुतली ने मुक्त हो
मुड़ कर ज्यों
आँख की धवलता को
पहली बार पहचाना
और ?
और अपनी मलिनता पर
लज्जित हो ठिठक गयी ।



नमन की चार पंक्तियाँ

नमन मेरा हिम-जलद-अभिषिक्त शृंगों को ।
नमन मेरा शान्त सन्ध्यातीत रंगों को ।
इन्द्रधनु के गुच्छ जिन पर तैरते रहते,
नमन मेरा अलकनन्दा की तरंगों को ।



बन्धन, मुक्त मन के

हिम-शिखर, निर्झर, नदी-पथ, चीड़-वन,
मुक्त मन के लिए बन्धन हो गये।
दृश्य से छन कर समाये आँख में,
आँख से मन में बसे, मन हो गये।



कहा मन ने आँख से

कहा मन ने आँख से –
तुम रमो उज्ज्वल शैल-शृंगों में,
मैं रहूँगा लीन तब तक और अंगों में।

गया जिस-जिस अंग तक मन
विहग शिशु-सा खोलकर निज पाँख,
चकित हो पाया यही —
वह तो कभी का बन चुका है आँख।



आँख भर देखा कहाँ

आँख भर देखा कहाँ, आँख भर आयी।

अटकी ही रही दीठ,
वह हिमगिरिमाल ढीठ,
मेरे ही आँसू के झीने पट ओट छिपी,
देखता रहा बेबस, दी नहीं दिखायी।
आँख भर देखा कहाँ, आँख भर आयी।

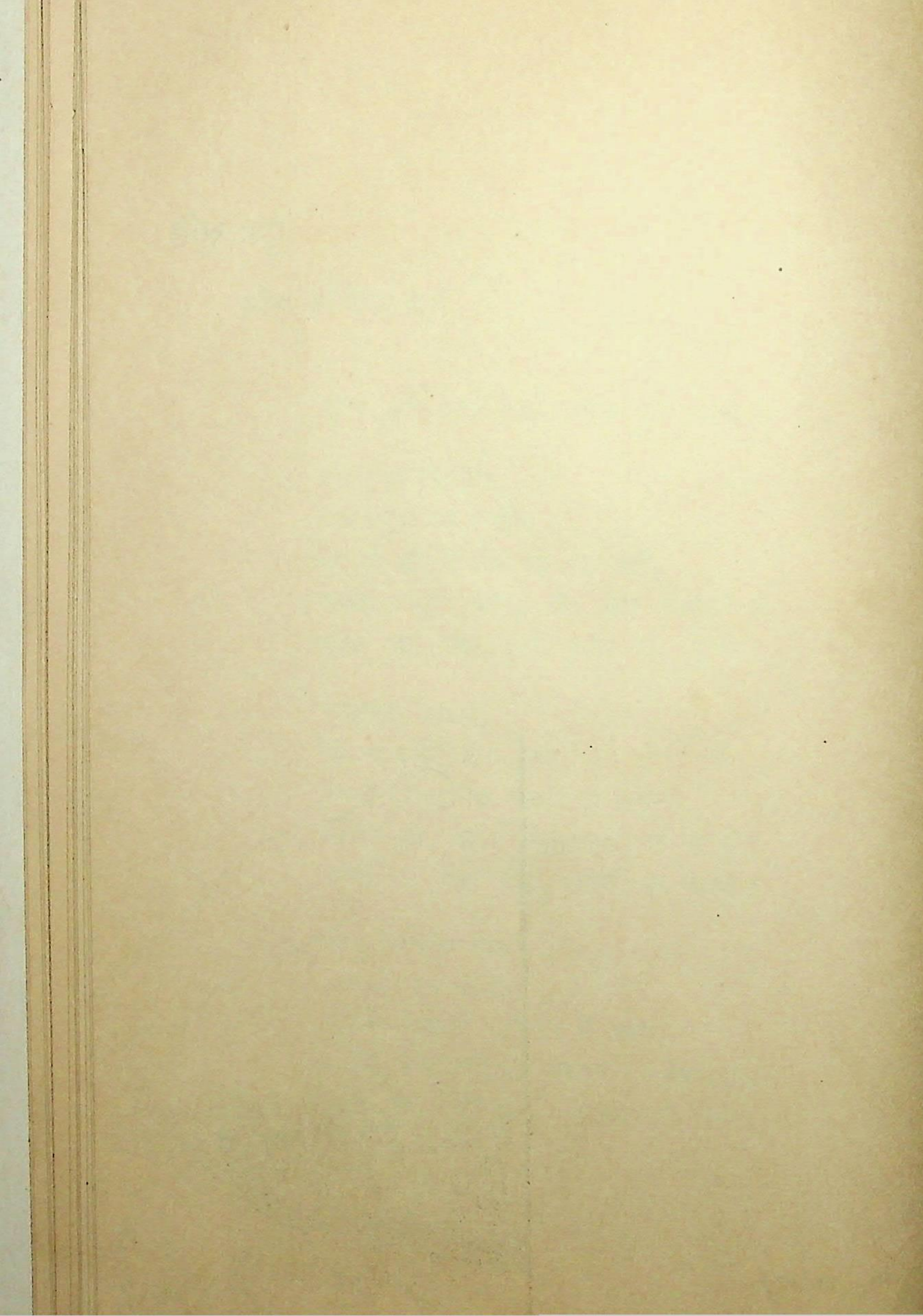
पंक्तिबद्ध देवदारु,
रोमिल, श्लथ, दीर्घ, चारु,
चन्दन पर श्यामल कस्तूरी की गन्ध-सी,
जलदों की छाया हिम-शृंगों पर छायी।
आँख भर देखा कहाँ, आँख भर आयी।

शिखरों के पार शिखर,
बिंध कर दृग गये बिखर,
घाटी के पंछी-सी गहरे मन में उतरी,
बदरी - केदारमयी मरकत गहरायी।
आँख भर देखा कहाँ, आँख भर आयी।

■

पुनः सृष्टि





प्रकृति रमणीक है

'प्रकृति रमणीक है'
जिसने इतना ही कहा –
उसने संकुल सौन्दर्य के घनीभूत भार को
आत्मा के कन्धों पर
पूरा नहीं सहा !

भीतर तक
क्षण-भर भी छुआ यदि होता
सौन्दर्य की शिखाओं ने
जल जाता शब्द शब्द
रहता बस अर्थाकुल मौन शेष
ऐसा मौन – जिसकी शिराओं में
सारा आवेग-सिन्धु
पारे-सा
इधर-उधर फिरता बहा-बहा ।

प्रकृति ममतालु है;
दूध-भरी वत्सलता से भीगी –
छाया का आँचल पसारती
– माता है !
स्निग्ध रश्मि-राखी के बन्धन से बाँधती,
– निर्मल सहोदरा है !

बाँहों की वल्लरि से तन-तरु को
रोम-रोम कसती-सी
औरों की आँखों से बचा-बचा
दे जाती चुम्बन के अनगूँथे फूलों की पंक्तियाँ
— प्रकृति प्रणयिनी है !
बूँद-बूँद रिसते इस जीवन को बाँधे मृत्यु-अंजलि में
भय के वनान्तर में उदासीन
शान्त देव-प्रतिमा है !

मेरे सम्मोहित विमुग्ध जलद-अन्तस् पर खिंची हुई
प्रकृति एक विद्युत् की लीक है !
ठहरो कुछ, पहले अपने को उससे सुलझा लूँ
तब कहूँ — प्रकृति रमणीक है··· ।



उष्ण-स्रोत

हिम-जलद, हिम-शृंग
हिम-छवि,
हिम-दिवस, हिम-रात,

हिम-पुलिन, हिम-पन्थ;
हिम-तरु,
हिम-क्षितिज, हिम-पात ।

आँख ने
हिम-रूप को
जी-भर सहा है ।
सब कहीं हिम है
मगर मन में अभी तक
स्पन्दनों का
उष्ण-जलवाही विभामय स्रोत
अविरल बह रहा है ।

■

हिम नहीं यह

हिम नहीं यह –
इन मनस्वी पत्थरों पर
निष्कलुष हो
जम गया सौन्दर्य ।

यह हिमानी भी नहीं –
शान्त घाटी में
पिघल कर बह रही
अविराम पावनता ।

और यह सरिता कि जैसे
स्नेह का उद्दाम कोमल पाश
अनगिनत प्रतिबिम्ब रच कर
बाँधती हो भूमि से आकाश ।

■

हिम-स्पर्श

प्रथम बार
मेरे – हिम के –
अस्तित्वों में स्पर्श हुआ,
मुझे लगा
मैंने नहीं, हिम ने ही मुझे छुआ।

सीमाहीन रूप की
आभा के ज्वार में
फिरता है चेतन मन बहा-बहा,

शीतल हिम-छाँह में
एक बार फिर मनु के भीगे नयन,
वाणी ने कुछ न कहा ।
खिंची प्रत्यंचा रोमांच की,
रोम-रोम मन्त्रपूत शर-सा
पंख खोल उड़ने को आतुर,
तैर दिशाकाश –
लक्षित अलक्ष्य-सा,
आदिम आखेटक के बाण से बिंधे
घायल हिरने की तड़पन को झेलता –
अचल, मैं भी मौन रहा ।
रह-रह कर छूटे – संख्यातीत ज्योति-शल्य
मुझमें कहीं फूटा एक अप्रतिहत उष्ण-स्रोत;

पिघल गया,
बाहर का सारा हिम
भीतर के ताप से
पता नहीं मन ने जड़ता को त्यागा, या गहा ।
कुछ क्षण बाद मुझे भान हुआ –
मैंने, हिम ने, दोनों ने दोनों को –
विवश एक साथ छुआ ।



विद्ध-चित्र

हिम गले क्यों
गलें मेरे शब्द
जो उसकी अछूती श्वेतिमा को
बाँधने में बिछल जाते हैं।

हिम बहे क्यों
बहें मेरे अश्रु
जो उसकी अचीन्ही भंगिमाएँ
देखने को निकल आते हैं।

हिम गले क्यों
हिम बहे क्यों
गलूँ मैं ही
बहूँ मैं ही।
दिया जिसने वेध
उसका 'विद्ध' बनकर
कुछ समय तो
रहूँ मैं ही।

■

हिम-विद्ध

देखा नहीं क्षीर-सिन्धु
यों ही बस – शिखरों के शीश पर जमी हुई
उसकी विस्फारित तरंगों को
मन्थर निहारा है ।

हुए अभिभूत ?
हम थे ही कहाँ, होते जो,
कुछ क्षण को हमसे हमारा अस्तित्व
तुहिन-शृंगों ने छीन लिया ।
फिर कब लौटाया हमें ज्ञात नहीं ।
लगता है –
उन्हीं मौन-मुद्रित क्षणों का
प्रत्येक अविकल्प अंश
कई-कई जन्मों की स्पर्शातीत —
संचित गहराई से गहरा था ।

वह केवल अपना ही नहीं
अब हमारे भी होने का साक्षी है ।

नीचे से ऊँचे को देखा
हम नमित हुए;
सुषमा के भार से –
झुक गया हमारा उन्नत दर्शन !
हुए उद्ग्रीव,
किन्तु पतली निर्झरिणी भी
नाप नहीं पाये एक दृष्टि में;
अभ्रंकश हिमाक्षिप्त शिखरों के रूप को
बाँधें भी तो कैसे –
टूक-टूक शब्दों की डोर में ।

जीवन का वेग मृत्यु-वांछा बन बहा,
हमने अनुमान लिया –
भारतजयी होकर भी आये क्यों धर्मराज
गलने हिमवान् में ।
श्वासों का अन्त किसी ठिठुरन में होगा ही
इतनी शान्त, शुभ्र, स्निग्ध जड़ता का रूपारूप पारावार
पायेंगे कहाँ पुनः
आयेंगे भी तो यह दीठ नहीं होगी पहले-जैसी
अनास्वाद,
अनाविद्ध ।



पुनः सृष्टि

तूली की नोंक की तरह
तीखी दृष्टि विवश
फिरती रही, फिरती रही
शिखरों को
जलदों को
        अपने और उनके बीच आते
देवतरुओं को
घेरती सँवारती ।

मन ने ज्यों
विधि के बनाये

सब रूपों-आकारों को
फिर से रचा,
जो कुछ भी शेष बचा
साहस बटोर कर
अपने में सोये हुए स्रष्टा को
खुली बाँह छू कर जगाया
कहा – द्रष्टा बनो !
देखो –
यह शिखर-जलद-देवदारु से पूरित
दिशाकाश
जो भी है, सब कुछ तुम्हारी ही सृष्टि है।
पृथ्वी-आकाश लो, अनिल-जल लो, तेज लो,
जैसे सहेज मिले इसको सहेज लो।



बादलों के वलय



बादल की सीप

जाने कब
बादल की सीप ने
नभ के उस अँधियारे कोने तक
मोती-सी चाँदनी उलीच दी,

सारे हिम-शृंगों की कोर-कोर
रेशम की आभा से फूट चली।



हिम-शिखरों पर बादल

शिखरों पर टिके
स्याह बादल की परछाई –
चाँदी के मँजे हुए थाल में
पूजा का दीपक रख
आँखों में काजल-सा पार गयो।

■

स्याह बादल : जगमगाती धूप

गिरि-शिखर से तलहटी तक
चीड़-वन को घेर
उतर आया यह शिथिल बादल
धुमैला स्याह
हुआ मन के सामने प्रत्यक्ष मेरा दोष ।

परस कर उस छोर तक
फैली हुई हिम - राशि
फूल की थाली सदृश –
यह जगमगाती धूप
खुला मेरे पुण्य का संचित अपरिमित कोष ।

जिस जगह जी चाहता है
देख लेता हूँ ठहर कर
स्याह बादल
जगमगाती धूप
ज़िन्दगी के इस अजाने मोड़ पर मेरा यही सन्तोष ।

■

धूप की चादर

बादलों के
कई थुलमे
ओढ़ने के बाद भी,
अभी तक
इस शिखर की ठिठुरन
नहीं छूटती तनिक भी;
और
यह मैं हूँ
कि हलकी धूप की चादर
बदन पर डाल कर
देह से ही नहीं
मन से भी पसीज
गुँधा चुका हूँ।

■

बादल : एक शब्द-चित्र

साँझ के सेंदुर-लिपे आकाश में
सरक आया क्षुधित बादल-व्याल
लपलपाती दीर्घ विद्युत्-जीभ जिसकी —
तुहिन-शिखरों पर विसुध सोयी हुई
स्वप्न-डूबी हर किरन को
चाट जाना चाहती है।



बादल-भँवरे

खिले देख
शिखरों के इन्दीवर
परिचित कोमलता का भ्रम ले कर
बादल-भँवरे आते,
हिम की चट्टानों से,
बार-बार टकरा कर
मन मारे उड़ जाते
नीली गहराई में
निर्मल आकाश की ।



ज्योति की मछलियाँ

बादलों की झील के ऊपर –
खिला शिखरों का कमल-वन ।
भोर ने भर-मूठ कुंकुम-किरन-केसर
इस तरह फेंकी —
वनों के गहन पुरइन-पात सारे
रँग उठे ।
ज्योति की बहुरंग, झिलमिल मछलियाँ
झील के तलहीन बादल-नीर में
बहुत गहरे, बहुत गहरे, तिर गयीं ।



बादल : देवदारु-शाखों पर

देवदारु-शाखों पर
रूई के गाले-से
रुके हुए बादल ये
सरके तो –
इस गहरी घाटी में
किधर कहाँ जायँगे
– कौन कहे।
सम्भव है पास के
दूसरे नुकीले देवदारु में अटक जायँ।
सम्भव है भेड़ों की तरह
चीड़-वन में ही इधर-उधर भटक जायँ।
या शायद ऐसा हो –
घाटी के टटके धन-खेतों की
हरी-हरी सीढ़ियाँ उतर जायँ।
और अगर शाखों ने –
बाँहों में ही कस कर थाम लिया
तो शायद न भी गिरें, वहीं कहीं ठहर जायँ।



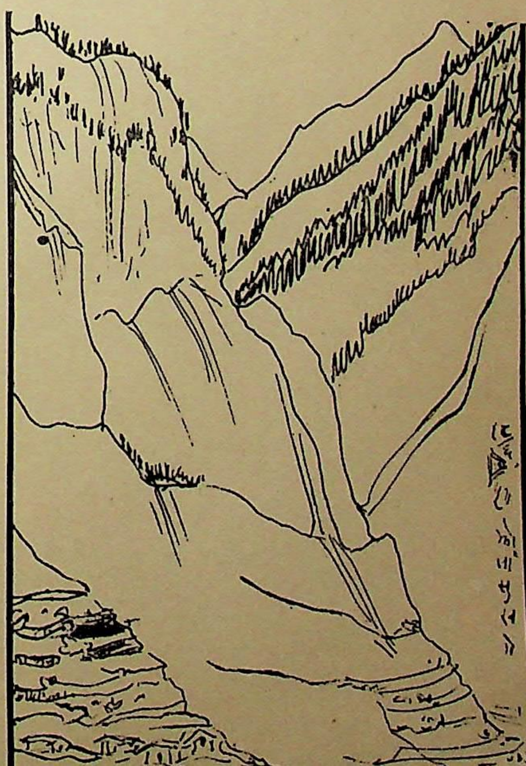
बादलों के वलय

पवन - दोलित
उस अकेले
देवतरु की तरह
घेरते ही जा रहे हैं
बादलों के वलय
मुझको भी कहीं।

इन सुकोमल बन्धनों से
मुक्त होकर
हवा से कैसे कहूँ –
जलद-वलयित देवतरु
मैं हूँ नहीं।

■

ढाकुरी के भोर



बात, रात से

आँख-सी उजली-धुली यह रात
हिम-शिखर पर
रश्मियों के पाँव रख कर
बढ़ चली,

कहा मैंने –
रुको !
मैं भी साथ चलता हूँ,
गगन की उस शान्त नीली झील के
निस्तब्ध तट पर
बैठ कर बातें करेंगे ।



पंख-कोर

दृष्टि-पथ में –
छू गयी हिम-शिखर-रेखा से
देवतरु के झूमते छतनार छोरों-सी
किसी उड़ते जल-विहग की
पंख-कोर ।

दृश्य के परिप्रेक्ष्य में
ऐसा लगा मुझको
कि जैसे हिम-शिखर से
छू गया मैं ही ।

सिहरनों के तार में
ऐसा पिरोया रोम-रोम
ताँत-सी बज उठी
सारी चेतना ।

■

शिखर-स्पर्श

शिखर-पंक्ति छूते-मे
किसी श्वेत बादल पर
                काँपते मयूर- सी
सिहरन वह
मेरे रोम - पंखों में भर गयी ।

'आइस - ब्रिज', पर सहसा
मेरे ही सुन्न शीत - विजड़ित पग
क्षण-भर को
उस मयूर के स्पन्दित नर्तन से
                पूर गये ।

मुझे लगा –
मैंने भी अभी-अभी
कहीं किसी बादल पर पंख खोल
                शिखरों को छुआ ।



शिखर-हथेलियों पर

दिन-भर की थकन से
मुरझाये सूरज की
राशि-राशि आभा को
रोक लिया
शिखर-हथेलियों पर
तिमिर-लीन
नीलम गिरिमाल ने।

कितने क्षण बीते अभी,
झिलमिल झलकती,
उन ऊँची हिम - कोरों तक
गोरी उँगलियों में —
पोर-पोर,
मेंहदी-सी रच गयी।

■

छवि-तरी डूबो

सूर्य डूबा नहीं,
डूबी नहीं किरनें;
शिखर डूबे
तिमिर के उस नील पारावार में ।

श्रृंग-छवि की, ज्वार-विह्वल
श्वेत पतली तरी पर तिरता हुआ
निःसंग मैं भी तो वहीं –
डूबा कहीं मँझधार में ।



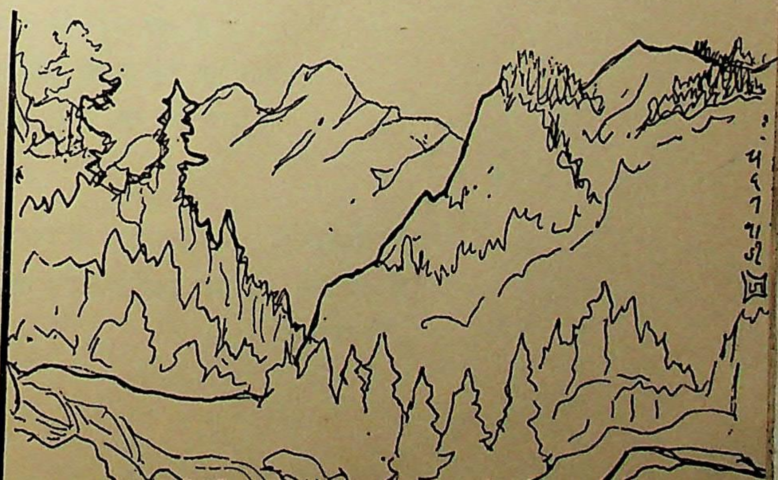
ढाकुरी के भोर

बादलों की ओट से
छन कर गिरी जो
बीच गंगा में
यह नहीं वह रश्मि
जो हिम पर पड़ी थी
ढाकुरी के भोर;

पत्तियों को बेध कर
दीवार पर छप-सी गयी जो
नहीं यह भी नहीं है वह रश्मि
जो मन में गड़ी थी
ढाकुरी के भोर।

■

वन-स्पन्दन



उपत्यका : आहत करुण स्वर

उस विशाल उपत्यका को चीर कर
तड़फड़ाहट-भरे स्वर में
'पी कहाँ, पी कहाँ'
टेरता फिरता रहा –
पागल पपीहा ।

सोचता हूँ –
थी बनी किस धात की,
हर रटन के बाद
तीखी और होती गयी जीहा ।

घन-घिरे वे शिखर
'सुन्दरढोंग' के
साँझ की हिम धूप में
झलके, झलक कर खो गये ।
फिर हुआ स्वर 'पी कहाँ'

बादलों के वज्र-गर्जन नाद से सहमी हुई
नोंक तक कम्पित खरू की पत्तियों से
ढुरे वर्षा-बूँद,

फिर हुआ वही स्वर 'पी कहाँ'।

प्रखर गीले पंखवाले गिद्ध-सा
पर्वत पवन का एक झोंका
देह पर
शीत के पंजे चुभा कर उड़ गया।
फिर हुआ स्वर 'पी कहाँ'

डाकबँगले की अँगीठी देर तक
अनसँवारी माँग में सिन्दूर भरती रही,
ओढ़ कर फिर राख की चादर
अचानक बुझ गयी,
किन्तु वह आहत करुण स्वर बावला,
कौन जाने और कब तक दर्द से जलता रहा।

■

सहनशाला नदी

उस किनारे से अचानक
चीड़-वन को थरथराता, दूर –
भारी एक पत्थर गिरा,
क्षुब्ध लहरों ने तड़पकर
हर दिशा को सूचना दी,
प्रतिध्वनि के सिवा
कोई कहीं से आया नहीं ।

रश्मियों की सलाई पर चढ़ा –
ऊनी इन्द्रधनु बुनती, अधूरा छोड़
विवश आने को हुईं, कुछ उर्मियाँ
किन्तु जल की सहज गति में
एक गहरी शान्ति के अतिरिक्त
मिला कुछ भी तो नहीं उनको ।
सह गयी वह नदी छोटी
चोट इतनी बड़ी आख़िर सह गयी ।

रश्मियों की हाथ में लेकर सलाई फिर वही ।
शुरू ऊनी इन्द्रधनुओं की बुनाई फिर वही ।

■

नदी का आवेग

पर्वतों के बीच बहती
नदी का आवेग
जैसे –
अश्रु बन कर बिखरने से पूर्व
हड्डियों को ठकठकाता हुआ कोई दर्द
रिक्त मन की घाटियों को चीर जाये ।



पाँगर-गन्ध विथोरती

भर-भर अँजुरी
पाँगर-गन्ध बिथोरती,

पर्वत की कोमल बयार भी
अपनी गन्धमादनी गति से
एक साथ ही
देह प्रान झकझोरती।

भँवरों की गुंजार टार कर
बिथुरी सौरभ कणिकाओं से
गुपचुप मधु रस चोरती।

भर-भर अँजुरी……।



उस हिमानी देश में भी

दमकती हीरक-कनी-सी
उन अदेखी शिखर-कोरों की चमक
थके पैरों की दुखन सहला गयी ।

राह पथरीली
वनों के बीच छिपती-झाँकती
सिहरते हर एक रोएँ को
उस हिमानी देश में भी
स्वेद से नहला गयी ।

■

टेर, पर्वत-पन्थ की

शिखर-कन्धे पर
जनेऊ की तरह चढ़ता हुआ
बसा पाँगर-गन्ध में,
खोया — गुच्छ-अंजलि से गिरी
सित-अरुण भोली पँखुरियों बीच,
घिरा, उलझा
गझिन पाटल-वल्लरी के
भूमिशायी कुंज-पाशों में,
चीड़-वन की
पीत-गैरिक सूचियों से विंधा
विलमता क्षण-भर
देवतरुओं की घनी आशीष-छाया तले,
देवतरु वे —
रश्मियों से कसे हरित वितान-जैसे ।

फिर उठा कर हाथ लेता कभी अँगड़ाई
मौन-बोझिल अलस आँखों से
निर्झरों की ओर झुकता - झाँकता,
पहुँच कर आइस-ब्रिजों पर
स्पर्श से कँपता सिहरता

आज भी मेरे थके-हारे पदों के पास आकर
स्नेह-गीले परस से सब श्रम मिटाकर
टेक कर माथा
बड़ी मनुहार करता कह रहा है —
'उठो ! आओ चलो मेरे साथ;
दूर — घाटी-पार से —
सुनो ! अब भी टुनकती हैं घण्टियाँ
भारवाही बकरियों के कण्ठ की,
गीत गाते –
बैल पर लादे हुए घर - बार
उन कैलाशगामी यात्रियों की
सुधि दिलातीं
चीरती-सी काल का व्यवधान—
फिर-फिर टुनक जातीं
सुनो ! सुनते क्यों नहीं ?'



घाटी की चिन्ता

सरिता-जल में
पैर डाल कर
आँखें मूँदे, शीश झुकाये,
सोच रही है कब से
बादल ओढ़े घाटी।

कितने तीखे अनुतापों को
आघातों को
सहते-सहते
जाने कैसे असह दर्द के बाद
बन गयी होगी पत्थर
इस रसमय धरती की माटी।



घने दारुका-वने

खोयी इन आँखों की आँख,
घने दारुका - वने ।

गुच्छों में खोये हैं बरुनी के छोर ।
छाया में सोयी है पुतली की कोर ।
हिम में मिल फैल गये कोये सब ओर ।
जो भी दे हेर, मिलें मोती नौ लाख,
घने दारुका-वने ।

तब से ये सपने में पागल-सी डोलतीं ।
अपने से सुन लेतीं, अपने से बोलतीं ।
घायल सीपी-सी भर-भर मोती रोलतीं ।
पातीं तो उड़ जातीं फैलाकर पाँख,
घने दारुका-वने ।

पलकों में बन्दी है मरकत-सा रूप ।
हिलती डालों से छनती पीली धूप ।
शिखरों से परस हुए बादल तद्रूप ।
उलझ रही गदरायी शाखों से शाख,
घने दारुका-वने ।

■

शाखें और सूची-गुच्छ

शुभ्र हिम-शिखरों की –
सुषमा के भार से
झुकी-झुकी अभिमन्त्रित
– शाखें देवदारु की ।

हिम-श्री को छूने के
निर्मल उल्लास से
उठे - उठे रोमांचित
– सूची-गुच्छ चीड़ के ।



स्तम्भ-कथा

नन्दा देवी के क्रीड़ा-प्रासादों की
रचना करने को स्वयं विश्वकर्मा ने,
खम्भे ही खम्भे जगह-जगह रच डाले
सर्जन संकल्पों में जाने - अनजाने ।

उनकी नभ-भेदी गर्वित ऊँचाई को,
जब विधि से देखा नहीं गया ईर्ष्यावश,
निज मन्त्रशक्ति से उसने उन स्तम्भों को
परिणत कर डाला तरुओं में अभ्रंकश ।

निश्वसित विश्वकर्मा के कर से छेनी
जा गिरी छूट कर जल की गहराई में,
लहरों में ऐसी सृजनशीलता जागी,
रच गये वहाँ भी खम्भे परछाई में ।

बोला वह आकुल-कण्ठ – 'अरे चतुरानन
मेरी रचना तू मिटा नहीं पायेगा ।
यह घने चीड़-वन और देवतरु-कानन,
जो भी देखेगा स्तम्भित रह जायेगा ।'

■

वन-स्पन्दन

तरु-शिखाएँ,
भूमि की आकांक्षाएँ
······वेधतीं आकाश

चीड़ सिहरन
देवतरु रोमांच
पुलकनों से बनी सारी पत्तियाँ,

स्पन्दनों का गहनतम इतिहास –
परिणत हो गया जैसे वनों में,
किन्तु धरती के हृदय की बात पूरी –
बँध कहाँ पायी त्वचा के कम्पनों में ।



स्मरण-जल



हिम-शिखर : मन में

शीशे की नाव में
बर्फ़ के टुकड़े
पिघलते हैं
गलते हैं
        और –
कहीं निराधार तरनी वह
तैरती है
अपने ही जल में ।



टेरते हैं शिखर

टेरते हैं शिखर
रह-रह झाँक जाती है –
रुपहली कोर
मन के शान्त, निर्मल, गहन जल में।

टेरते हैं शिखर
रह-रह टीस जाती है –
वनों की याद
छनती रश्मियों के भूमि-शायी ज्योति-छल में।

टेरते हैं शिखर
रह-रह तैर जाती है –
जलद-छाया
साँवली अलि-पंक्ति-सी उजले कमल में।



कल्पना का अन्तराल

वस्तु को सुन्दर बनाती है
– भावमय दूरी,
चाहे वह
देश की हो
काल की हो
अथवा हो
कल्पना की
रूपगत बोध की

दूरी वह –
रच-रच देती है
नयी-नयी छवियाँ
अन्तरंग दृष्टि के
सारे अन्तराल में।

होगा
कठोर और कौन सत्य
हिम से पाषाण से !

होगी
रमणीक और कौन छवि
इन सुदूर शिखरों की
रंगारंग आभा से
– आभा के रंजित आह्वान से।

■

शिखरों से दूर हूँ

इसमें, उसमें –
अनगिन धन्धों में, उलझा हूँ,
शिखरों से दूर हूँ।

पाऊँ जो पंख
अभी हिम-जल से अभिमन्त्रित
घाटी में तिर जाऊँ,
लेकिन मजबूर हूँ।

देखना था निर्निमेष भावों में जिन्हें
उन्हें सपनों-सा मन-ही-मन
अनुदिन अभावों में देखता हूँ,
मैं कितना क्रूर हूँ!



उम्र का माथा

लौट आया हूँ
थके हारे अहेरी-सा
गहन वन में भटक कर;
सुनहली हिरनी-सदृश हर बार
तन-झलक से
मुझे छलती रही – चढ़ती धूप।

गहन वन से
लौट आया हूँ,
उस मनोहारी थकन से
मुक्ति भी कुछ पा चुका हूँ;
किन्तु मेरी उम्र का माथा –
दीपते प्रत्येक हिम-छादित शिखर की
छाँह में बहती
प्रखर स्रोतस्विनी के
वीचि सिंचित
इन्द्रधनुषी कूल पर
– अब भी टिका है।



भूल क्यों बैठे बटोही

छन्द में आबद्ध कविता-पंक्ति-सी
भोज-तरुओं पर कसी
रस-गर्विता बेसुध लताएँ,
सरसराते पवन के आवेग पर
किसी जालीदार श्वेत दुकूल-सी उड़ती हुई
निर्झरिणियों से भरी – वे घाटियाँ,
और उनमें झाँकती हिम - शृंखलाएँ
भूल क्यों बैठे बटोही !
क्या तुम्हारे स्वप्न-जल में झलमलाते
उन हिमानी स्वर्ण-शिखरों पर –
शान्त संझा-कुन्तलों-से
ताम्र-जलद झुके नहीं ?
क्या तुम्हारी चित्र-रचना से अभी तक
स्नेह-अर्जित रूप-लक्षी
भोजपत्र चुके नहीं ?
अरे ! पर्वत-प्रान्त से आती हुई
इस सुपरिचित प्राण-वेधी टेर को
और तुम कब तक उपेक्षित कर सकोगे ?
क्या कहीं कुछ और अब भी शेष है जिससे
रिक्तता अपने हृदय की भर सकोगे ?

■

व्यर्थ शब्द-जाल

लो मैं तो भोर से ही शब्दों का जाल डाल
मर्माहत निरा मौन बैठा हूँ
स्मरण-दीप्त विष्णु-प्रयाग की शिलाओं के
चिकने सोपान पर !

मुझ तक न आना
नहीं, स्वच्छ विष्णुगंगा के
उच्छल तरंग-गुच्छ
छीप-छीप जायेंगे
बेबस तुम्हारे भी देह-प्राण ।

जिसके आरोहों-अवरोहों पर
किरनों के कंचन-दुकूल-सा
बार - बार बहने को
आतुर मन
उस फेनिल क्षिप्र अलकनन्दा की
धाराहत प्रखर धार
जाने कब से उलझी
जल के कम्पित तल की —
गीतिमयी स्वरलिपि में ।

मेरा शब्द-जाल व्यर्थ,
कोई भी मछली
उस छवि-दोलित उज्ज्वल जल-रूप को
छली नहीं जा सकी,

हाथ लगीं
केवल कुछ छींटें ही
जिनकी शीतलता से भीग कर
रोम-रोम अब भी है —
कण्टकित ।



शिखर मेरे

जागता हूँ तो —
कहीं छुप कर मुझी में
शिखर मेरे जागते हैं,

और सोता हूँ अगर —
तो कहीं मेरे बीच अन्तर्लीन हो
सोना मुझी में चाहते हैं !

नहीं, कोई नहीं है
जिससे कहूँ मैं
मर्म की यह बात !
घाटियाँ वे दूर हैं
देखा जहाँ से इन्हें

पहली बार

ज्योत्स्ना-स्नात

आधी रात !



स्मरण-जल

मुँदी आँखों देखता हूँ
वे शिखर दूरस्थ
घुलते जा रहे हैं
स्मरण - जल में ।

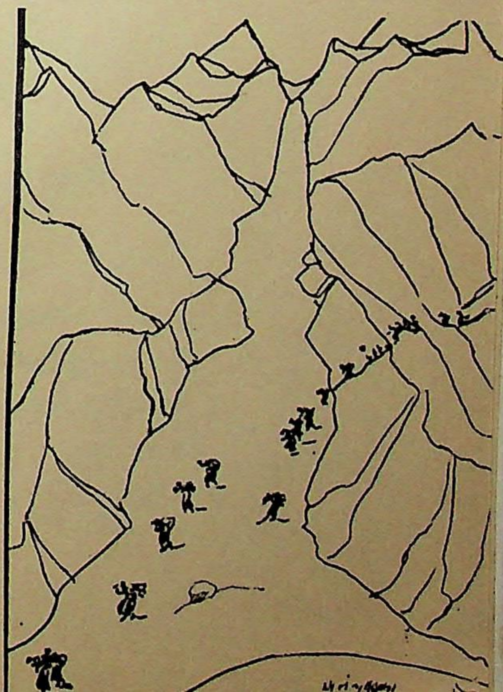
बादलों के स्पर्श से
नम हो गये थे
रंग जो आकाश के,
और घुलते जा रहे हैं
स्मरण - जल में ।

पास मेरे कहाँ ऐसी तूलिका
उनको सँवारूँ,
कहाँ ऐसी दृष्टि

जो अधूरे चित्र में भी
रूप को पूरा निहारूँ।
किन्तु
आहत शिखर के
इस छोर से उस छोर तक
दोहरी लपकती
बिजलियों की तरह
मेरे बन्ध
खुलते जा रहे हैं
स्मरण - जल में।



मैं वह क्यों नहीं हुआ



वज्र-संकल्प

कहाँ है वह हाथ
मुझसे माँगने को
— दान
संकट - काल में
जो बढ़ा मेरी ओर,
कहाँ से आयी अभी
वह मर्म की आवाज़
जिसने दिया
मेरी चेतना की जड़ों को झकझोर;

चाहते हो स्वर्ण
— यह लो
चाहते हो रक्त
— वह भी दे रहा हूँ,
किन्तु पहले तनिक उसका
वेग सह लो
और यदि हो उँगलियों में शक्ति
फिर भी शेष
तो लो दे रहा हूँ
यह धधकता हुआ दृढ़ संकल्प
अपनी आस्था का अस्थिमय अस्तित्व
रच सको तो रचो इससे वज्र घातक क्रूर।
कर सको तो करो सीमा के असुर का गर्व
— चकनाचूर।

■

स्वाभिमान

देश मेरे !
ज्योतिमय तेरे तुषार किरीट पर,
कुछ मकोड़े रेंग आये —
समझ कर तुझको निरा म्रियमाण ।

झिटक दे सिर
तनिक दायीं ओर बायीं ओर,
किलबिलाकर कीट
धरती पर गिरें उत्तान ।

जान लें यह
निकलने से पूर्व उनके प्राण,
काल से भी अधिक होता है भयावह
किसी आहत स्वाभिमानी देश का
जागा हुआ अभिमान ।

■

कौन भूमि होगी जहाँ

गये महाभारत के बाद
शान्ति पाने को
जहाँ –
गहन चिन्ताकुल धर्मराज
आज वहीं
उसी शुभ्र, हिम - पावन,
जलदोन्नत भूमि पर
नये महाभारत का सूत्रपात !
अब इससेऊँची
इससे पावन
कौन भूमि होगी जहाँ
युद्ध - जयी होने के बाद
पुनः पाने को शान्ति - लाभ
जायेंगे
आगत युग के चिन्तित धर्मराज ?



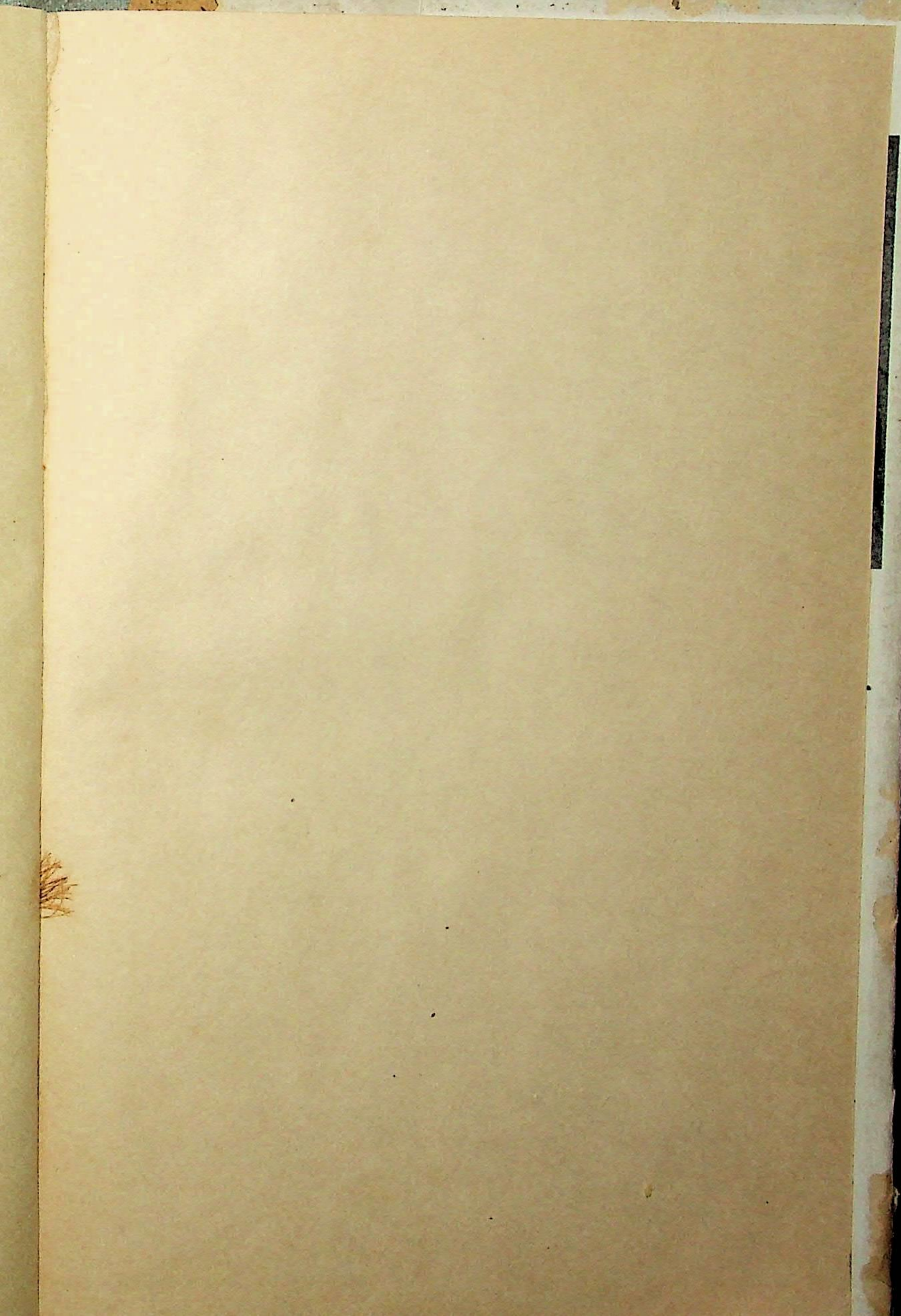
मैं वह क्यों नहीं हुआ

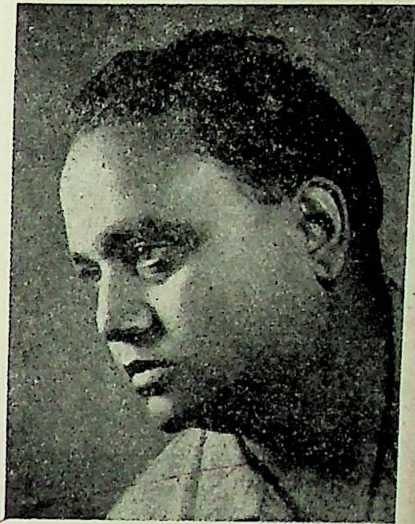
मैं वह क्यों नहीं हुआ
जिसने
हिम - शिखरों की रक्षा में
पहला आघात सहा ।

मैं वह क्यों नहीं हुआ
जिसके घायल तन से
चौड़ी चट्टानों पर
प्रथम बार
किसी गर्म सोते - सा –
रक्त बहा ।

मैं वह क्यों नहीं हुआ !

■





कवि-परिचय

सन् १९२४ में शाहाबाद, हरदोई-में जन्म। प्रयाग विश्वविद्यालयसे एम० ए० और डी० फ़िल्‌की उपाधि, फिर सन् १९५० से वहीं हिन्दी विभागमें प्राध्यापक। कविताके अतिरिक्त मुख्य व्यसन चित्रकला : स्वतन्त्र रूपसे अनेक चित्र-प्रदर्शन। देश-दर्शन तथा पुरातन मूर्ति मुद्रा-संकलनमें विशेष रुचि, शिला-चित्रोंकी शोधमें प्रवृत्ति।

अनेक महत्त्वपूर्ण कृतियोंके रच-यिता, जिनमें हैं : ● शब्द-दंश, ● नावके पाँव (कविता संकलन) ● भारतीय कलाके पदचिह्न (कला-विषयक स्फुट लेख-संग्रह) ● गुजराती और ब्रजभाषा कृष्ण-काव्यका तुलनात्मक अध्ययन (शोध प्रबन्ध) ● रीति-काव्य-संग्रह (हिन्दी रीति मुक्तकोंका सग्रह) ● नयी कविता (सात अंक, सम्पादित), और यह ● हिम-विद्ध। आधुनिक काव्यको दिशा-प्रवृत्तियोंपर वैचारिक निबन्धोंका संग्रह शीघ्र ही प्रकाश्य।



भारतीय ज्ञानपीठ

उद्देश्य

ज्ञानकी विलुप्त, अनुपलब्ध
और अप्रकाशित सामग्रीका
अनुसन्धान और प्रकाशन
तथा लोक-हितकारी
मौलिक-साहित्यका निर्माण

•

संस्थापक

साहू शान्तिप्रसाद जैन

अध्यक्षा

श्रीमती रमा जैन

•

मुद्रक : सन्मति मुद्रणालय, दुर्गाकुण्ड रोड, वाराणसी–५